9 सन्त निरन्तर चिन्तत ऐसे

सन्त निरन्तर चिन्तत ऐसे,
आतमरूप अबाधित ज्ञानी ।।टेक।।

रोगादिक तो देहाश्रित हैं, इनतें होत न मेरी हानी।
दहन दहत ज्यों दहन न तदगत, गगन दहन ताकी विधि ठानी ।।१।।

वरणादिक विकार पुद्गलके, इनमें नहिं चैतन्य निशानी।
यद्यपि एकक्षेत्र–अवगाही, तद्यपि लक्षण भिन्न पिछानी ।।२।।

मैं सर्वांगपूर्ण ज्ञायक रस, लवण खिल्लवत लीला ठानी।
मिलौ निराकुल स्वाद न यावत, तावत परपरनति हित मानी ।।३।।

'भागचन्द्र' निरद्वन्द निरामय, मूरति निश्चय सिद्धसमानी।
नित अकलंक अवंक शंक बिन, निर्मल पंक बिना जिमि पानी ।।४।।

दिगम्बर वीतरागी ज्ञानी संत निराबाध (बाधारहित) अपने आत्म स्वरूप का चिन्तन करते हैं।

वे मुनिवर विचार करते हैं कि ये रोग तो शरीर के आधार से हुये हैं और चेतन तत्व होने से इनसे मेरा कोई नुकसान नहीं है। जिस प्रकार अग्नि में ईंधन जलता है परन्तु अग्नि ईंधन रूप नहीं होती, तथा जैसे आकाश में अग्नि की उष्णता दिखाई देने पर भी आकाश के प्रदेश जलते नहीं हैं तात्पर्य यह है कि आत्मा सकल ज्ञेयों को जानने पर भी ज्ञेय रूप नहीं होता।

वर्ण, रस आदि ये सभी पुद्गल का विकारी परिणमन है। इसमें चैतन्य का अंश मात्र भी नहीं है। यद्यपि एक क्षेत्र में मिले हुये दिखाई देने पर भी शरीर और आत्मा दोनों के लक्षण सदैव भिन्न–भिन्न हैं।

जिस प्रकार नमक के सारे प्रदेशों में खारापन व्याप्त है उसी प्रकार मेरे सम्पूर्ण आत्म प्रदेशों में एक मात्र ज्ञायक की अनुभूति ही है। जब तब इस जीव को आत्म तत्त्व की निराकुलता के आनन्द की अनुभूति नहीं होती तब तक यह जीव पर द्रव्यों से अपना हित मानता रहता है।

भागचन्द्र कवि कहते हैं कि मुनिभगन्त विचार करते हैं कि निश्चय से यह आत्मा सिद्धों के समान, निरद्वन्द और विकार रहित है। जिस प्रकार कीचड़ रहित पानी शुद्ध और निर्मल होता है वैसे ही यह आत्मा सदा कलंक से रहित, आश्चर्यकारी और शंकादि दोषों से रहित चैतन्य वस्तु है ।